

श्रीमद् भगवद्गीता – अठारहवाँ अध्याय

अनुक्रम

अठारहवें अध्याय का माहात्म्य	1
अठारहवाँ अध्याय: मोक्षसंन्यासयोग	2

अठारहवें अध्याय का माहात्म्य

श्रीपार्वतीजी ने कहा: भगवन् ! आपने सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य बतलाया। अब अठारहवें अध्याय के माहात्म्य का वर्णन कीजिए।

श्रीमहादेवजी न कहा: गिरिनन्दिनी ! चिन्मय आनन्द की धारा बहाने वाले अठारहवें अध्याय के पावन माहात्म्य को जो वेद से भी उत्तम है, श्रवण करो। वह सम्पूर्ण शास्त्रों का सर्वस्व, कानों में पड़ा हुआ रसायन के समान तथा संसार के यातना-जाल को छिन्न-भिन्न करने वाला है। सिद्ध पुरुषों के लिए यह परम रहस्य की वस्तु है। इसमें अविद्या का नाश करने की पूर्ण क्षमता है। यह भगवान विष्णु की चेतना तथा सर्वश्रेष्ठ परम पद है। इतना ही नहीं, यह विवेकमयी लता का मूल, काम-क्रोध और मद को नष्ट करने वाला, इन्द्र आदि देवताओं के चित्त का विश्राम-मन्दिर तथा सनक-सनन्दन आदि महायोगियों का मनोरंजन करने वाला है। इसके पाठमात्र से यमदूतों की गर्जना बन्द हो जाती है। पार्वती ! इससे बढ़कर कोई ऐसा रहस्यमय उपदेश नहीं है, जो संतप्त मानवों के त्रिविध ताप को हरने वाला और बड़े-बड़े पातकों का नाश करने वाला हो। अठारहवें अध्याय का लोकोत्तर माहात्म्य है। इसके सम्बन्ध में जो पवित्र उपाख्यान है, उसे भक्तिपूर्वक सुनो। उसके श्रवणमात्र से जीव समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

मेरुगिरि के शिखर अमरावती नामवाली एक रमणीय पुरी है। उसे पूर्वकाल में विश्वकर्मा ने बनाया था। उस पुरी में देवताओं द्वारा सेवित इन्द्र शची के साथ निवास करते थे। एक दिन वे सुखपूर्वक बैठे हुए थे, इतने ही में उन्होंने देखा कि भगवान विष्णु के दूतों से सेवित एक अन्य पुरुष वहाँ आ रहा है। इन्द्र उस नवागत पुरुष के तेज से तिरस्कृत होकर तुरन्त ही अपने मणिमय सिंहासन से मण्डप में गिर पड़े। तब इन्द्र के सेवकों ने देवलोक के साम्राज्य का मुकुट इस नूतन इन्द्र के मस्तक पर रख दिया। फिर तो दिव्य गीत गाती हुई देवांगनाओं के साथ सब देवता उनकी आरती उतारने लगे। ऋषियों ने वेदमंत्रों का उच्चारण करके उन्हें अनेक आशीर्वाद दिये। गन्धर्वों का ललित स्वर में मंगलमय गान होने लगा।

इस प्रकार इस नवीन इन्द्र का सौ यज्ञों का अनुष्ठान किये बिना ही नाना प्रकार के उत्सवों से सेवित देखकर पुराने इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे: 'इसने तो मार्ग में न कभी पौंसले

का कर्तव्य बता कर 39वें श्लोक से अध्याय पूरा हो तब तक कर्मयोग का उपदेश दिया है। फिर तीसरे अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक किसी जगह पर ज्ञानयोग के द्वारा तो किसी जगह कर्मयोग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति बतायी गयी है। यह सब सुनकर अर्जुन इस अठारहवें अध्याय में सर्व अध्यायों के उद्देश्य का सार जानने के लिए भगवान के समक्ष संन्यास यानी ज्ञानयोग का और त्याग यानी फलासक्तिरहित कर्मयोग का तत्त्व अलग-अलग से समझने की इच्छा प्रकट करते हैं।

॥ अथाष्टादशोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

अर्जुन बोले: हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक-पृथक जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

श्री भगवान बोले: कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।(2)

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

कुछेक विद्वान ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।(3)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥४॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।(4)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥5॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप – ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।(5)

**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चतं मतमुत्तमम्॥6॥**

इसलिए हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।(6)

**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥7॥**

(निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है।) परन्तु नियत कर्म का स्वरूप से त्याग उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है।(7)

**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥**

जो कुछ कर्म है, वह सब दुःखरूप ही है, ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता।(8)

**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥9॥**

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है – इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना गया है।(9)

**न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥10॥**

जो मनुष्य अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता – वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है।(10)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥11॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है – यह कहा जाता है।(11)

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥12॥

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ – ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् अवश्य होता है, किन्तु कर्मफल का त्याग कर देने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता।(12)

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥13॥

हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अन्त करने के लिए उपाय बतलाने वाले सांख्यशास्त्र में कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भली भाँति जान।(13)

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥14॥

इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण और नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है।(14)

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥15॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है – उसके ये पाँचों कारण हैं।(15)

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥16॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल शुद्धस्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता।(16)

यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥17॥

जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं' कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लेपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मरता है और न पाप से बँधता है।(17)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मकंग्रहः॥18॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय – ये तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया ये तीन प्रकार का कर्म संग्रह है।(18)

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥19॥

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भली भाँति सुन।(19)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥20॥

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक-पृथक सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।(20)

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥21॥

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।(21)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥22॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है – वह तामस कहा गया है।(22)

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥23॥

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो – वह सात्त्विक कहा जाता है। (23)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।

क्रियते बहुलायासं तद्रजासमुदाहृतम्॥24॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।(24)

**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तामसमुच्यते॥25॥**

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है।(25)

**मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥26॥**

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है – वह सात्त्विक कहा जाता है।(26)

**रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥27॥**

जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मों के फल को चाहने वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिस है – वह राजस कहा गया है।(27)

**अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥**

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री है – वह तामस कहा जाता है।(28)

**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥29॥**

हे धनंजय ! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन।(29)

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥30॥**

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है – वह बुद्धि सात्त्विकी है।(30)

**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥31॥**

हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

अधर्म धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥32॥

हे अर्जुन ! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है।(32)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥33॥

हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्ति से मनुष्य ध्यानयोग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।(33)

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥34॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फल की इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्ति के द्वारा अत्यन्त आसक्ति से धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारणशक्ति राजसी है। (34)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥35॥

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है – वह धारणशक्ति तामसी है।(35)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यसाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥36॥

यत्तदग्रे विषमिद परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥37॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुख में साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है – जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाम में अमृत के तुल्य है। इसलिए वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है।(36, 37)

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥38॥

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।(38)

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं ततामसमुदाहृतम्॥39॥

जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है – वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।(39)

**न तदस्ति पृथिव्यां व दिवि देवेषु वा पुनः
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥40॥**

पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी वह ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो।(40)

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥41॥**

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं।(41)

**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥42॥**

अन्तःकरण का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, -शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना – ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।(42)

**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥43॥**

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामीभाव – ये सब-के-सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।(43)

**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥44॥**

खेती, गौपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार – ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।(44)

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥45॥**

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता, उस विधि को तू सुन।(45)

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥46॥**

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।(46)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥47॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।(47)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥48॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं।(48)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥49॥

सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है।(49)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥50॥

जो कि ज्ञानयोग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ।(50)

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥51॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥52॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥53॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करने वाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकान्त और शुद्ध देश का सेवन करने वाला, सात्त्विक धारणशक्ति के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेने वाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके निरन्तर ध्यानयोग के परायण रहने वाला, ममता रहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है।(51, 52, 53)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥54॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभावना वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।(54)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यथास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥55॥

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।(55)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यापाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥56॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।(56)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव॥57॥

सब कर्मों का मन से मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योग को अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।(57)

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥58॥

उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जायेगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जायेगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जायेगा।(58)

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥59॥

जो तू अहंकार का आश्रय न लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।(59)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥60॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।(60)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥61॥

हे अर्जुन ! शरीररूप यंत्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।(61)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥62॥

हे भारत ! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।(62)

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यद् गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥63॥

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर।(63)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥64॥

सम्पूर्ण गोपनियों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।(64)

मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥65॥

हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।(65)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥66॥

सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।(66)

इदं ते नातपस्काय नाभाक्ताय कदाचन।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥67॥

तुझे यह गीता रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छावाले से ही कहना चाहिए तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी नहीं कहना चाहिए।(67)

य इमं परमं गुह्यं मद् भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥68॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों से कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा – इसमें कोई सन्देह नहीं।(68)

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृतमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥69॥

उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं।(69)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥70॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवादरूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा – ऐसा मेरा मत है।(70)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः
सोऽपि मुक्तःशुभौल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥71॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र को श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा।(71)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥72॥

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?(72)

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रासादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥73॥

अर्जुन बोले: हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।(73)

संजय उवाच
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥74॥

संजय बोले: इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अदभुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवाद को सुना।(74)

व्यासप्रासादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।

